इतिहास - लेखन की भारतीय अवधारणा

डॉ. असीम कुमार मिश्र...
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

इतिहास-लेखन पर कुछ लिखने से पूर्व इस विषय पर विचार करना आवश्यक है कि इतिहास किसे कहा जाए। प्रकृत विषय पर आने से पूर्व इतिहास के संबंध में भारतीय और पाश्चात्य अवधारणाओं से परिचित होना परमावश्यक है। इतिहास के व्युत्पत्तिपरक शब्दार्थ से स्पष्ट होता है कि इस शब्द के निहितार्थ में भूतकाल के स्मरणीय महापुरुषों और प्रसिद्ध घटनाओं का वर्णन सन्निहित है। इतिहास शब्द का प्राचीन प्रयोग अथर्ववेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है। अथर्ववेद में इसकी चर्चा ऋक्, यजुस् और साम तथा गाथा और नाराशंसी के साथ हुई है। ऐतिहासिक रचनाओं को ब्राह्मणों और उपनिषदों में इतिहासवेद कहा गया है।[१] कौटिल्य ने अर्थशास्त्र (ई. पू.तृतीय शती) में वेदों की गणना करते हुए लिखा है कि ऋक्, साम और यजुस् त्रिवेद है, इनके साथ अथर्व और इतिहासवेद की गणना वेदों के अंतर्गत की जाती है।[२] कौटिल्य ने इतिहास को पंचम वेद का महत्त्व प्रदान कर उसे ज्ञान के क्षेत्र में काफी ऊँचा स्थान दिया है।[३] वृहद्देवता में पूरे एक सूक्त को इतिहास सूक्त कहा गया है।[४] कौटिल्य ने इतिहास की परिभाषा देते हुए अर्थशास्त्र में लिखा है कि पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र इतिहास है।[५] इस प्रकार प्राचीन भारतीय मान्यता के अनुसार इतिहास शब्द बहुत व्यापक और विस्तृत था। इसके परिक्षेत्र में अनेक विषय समाविष्ट थे। अर्थशास्त्र में प्रयुक्त 'पुराण' शब्द का अभिप्राय उन आख्यायिकाओं से है जो प्राचीन (पुरा) काल से पीढ़ी दर पीढ़ी विकसित होती आई हैं। इतिवृत्त का शब्दार्थ है 'भूत में घटित घटना'। यह आधुनिक इतिहास के शब्दार्थ के अधिक निकट है। इतिवृत्त में भूतकाल की घटनाओं और स्मरणीय व्यक्तियों का ब्यौरा संग्रहीत किया जाता है। उदाहरण या दृष्दान्त साहित्य के अंतर्गत वे कथाएँ कहानियां आती हैं जिनमें प्राचीनकाल के यथार्थ या कल्पित व्यक्तियों के दृष्टान्त देकर किसी नैतिक सिद्धांत या राजनीतिक नियम को अनुमोदित-समर्थित किया जाता है। इसीलिए जैन-कथा - आख्यायिका साहित्य में ऐसे दृष्टान्त पर्याप्त मिलते हैं । इस उदाहरण-साहित्य में प्रसंगतः किसी ऐतिहासिक पात्र या घटना का वर्णन भी मिल जाता है, जिससे इतिहास-लेखन में सहायता मिलती है। आख्यान या आख्यायिका का अर्थ ऐतिहासिक कथा है। शतपथब्राह्मण में आख्यान और इतिहास का अन्तर बताया गया है। पुराणों में सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रलय), वंश (ऋषियों और राजाओं की वंशावलियाँ), मन्वन्तर तथा वंशानुचरित ये मुख्य घटक थे। स्मरणीय है कि वंशावली केवल राजाओं की ही नहीं बल्कि ऋषियों की भी दी जाती थी और राजाओं से पूर्व उसे स्थान दिया जाता था। इसीलिए जैन-पट्टावलियाँ जिनमें जैन सूरियों, भट्टारकों की वंशावली है, जैन - इतिहास-लेखन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

वेदों में शुनः शेप और पुरुरवा आदि के आख्यान मिलते हैं, जो परवर्ती ऐतिहासिक नाटकों और प्रबंधों के स्रोत रहे हैं। बाद में इतिहास और पुराण परस्पर घुल-मिल गए। पुराण शब्द का प्रयोग अथर्ववेद में प्राचीन जनश्रुति (Ancient-Lore) के अर्थ में हुआ है। शतपथब्राह्मण में इतिहास-पुराण प्रायः युगपत् व्यवहृत मिलते हैं।[६] इनका इतिहास पुराण में क्रमशः विलय हो गया है। इतिहास और पुराण का वर्णन-क्षेत्र एक ही था और विषय-वस्तु भी प्रायः समान ही थी। पुराणों में इतिहास, आख्यान और गाथा सम्मिलित थे। इनसे वंश-साहित्य या वंशानुचरित का विकास हुआ और वंशवर्णन पुराणों का प्रमुख लक्षण माना जाने लगा। हरिवंश और रघुवंश इसके प्रमाण हैं। आख्यायिका भी एक प्रकार की इतिहास-रचना थी। कालान्तर में अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र ने अपना स्वतंत्र विकास कर लिया। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय में इतिहास की स्पष्ट अवधारणा मिलती है और उसके आधार पर इतिहास -रचना होती थी। किन्तु कुछ पाश्चात्य विद्वानों की देखा-देखी भारतीय विद्वानों के एक वर्ग में यह धारणा प्रचलित थी कि प्राचीन भारत में इतिहास और इतिहासकार नहीं थे। जिस देश में इतिहास शब्द का इतना प्राचीन प्रयोग मिलता है और जिसे विद्या के क्षेत्र में इतना उच्च स्थान दिया गया है, उससे भारतीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपरिचित रहे हों या उसके रचना-कौशल का उनमें ज्ञान न रहा हो यह बात संभव नहीं लगती।

ज्ञान के इतने महत्त्वपूर्ण अंग की स्पष्ट धारणा इस देश में न रही हो यह बात किसी तरह गले के नीचे नहीं उतरती। टिलहार्ड द शार्डिन और लोएस डिकिन्सन जैसे कुछ पाश्चात्य लेखकों ने यह मत प्रचारित किया था और हीरानंद शास्त्री जैसे विद्वान ने इसका समर्थन किया कि प्राचीन भारत में स्पष्ट इतिहास-ग्रन्थ नहीं लिखे गए। डा. वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी प्रकारान्तर से यही माना है। आधुनिक इतिहासकार काल, व्यक्ति और स्थान एवं घटना को इतिहास का महत्त्वपूर्ण अंग मानते हैं। इसी आधार पर वे हमारे प्राचीन इतिहास ग्रन्थों-महाभारत आदि को आधुनिक अर्थ में इतिहास-ग्रन्थ नहीं मानते, क्योंकि महाभारतकार ने २४ हजार श्लोकों में से किसी भी श्लोक में संभवत: उसकी रचना का समय और स्थान का विवरण नहीं दिया। लेकिन क्या काल की उपेक्षा के कारण शेष तीनों वर्णन ऐतिहासिक न होकर पौराणिक हो गए। उनका यह कथन कि आधुनिक अर्थ में इतिहास-लेखन की अवधारणा पाश्चात्य जगत् में विकसित हुई सर्वथा मान्य नहीं है। भारतीय काल की सनातनता में विश्वास करते हैं न कि पुरातनता में। आधुनिक इतिहास भूत या प्राचीन काल की घटनाओं का विवरण देने को ही महत्त्वपूर्ण मानता है। हमारे देश में जड़, मृत या भूत की उपासना प्रशस्त नहीं मानी गई। मिस्र में भूत की उपासना प्रबल रूप से प्रचलित थी। इसीलिए ममी को पिरामिडों में सुरक्षित रखा गया। ईसाई और इस्लाम में मृतकों को गाढ़कर उनके ऊपर कब्र बनवाना मिस्री भूत-पूजा का ही अनुकरण है। भारतीय संस्कृति में मृतकों को अग्नि में जलाने के बाद जो शेष रहता है, उसे जल में प्रवाहित किया जाता है और शेष केवल सनातन बचता है। संभवत: इसीलिए महाभारत और पुराणों में तिथिक्रम नहीं मिलता है। प्राय: पुराणों में जो राजवंशावलियाँ है उनसे इतिहास के तिथिक्रम-निर्धारण में कम ही सहायता मिलती है।

पाश्चात्य विचारकों का मत है कि सिकन्दर के आक्रमण और चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहण की निश्चित तिथि ई.पू. ३२५ को ही आधार मानकर पुराणों की संख्या को समय-सूचक बनाया गया है[७]। अत: यह आधार भी दृढ़ नहीं है। सच्चिदानन्दमूर्ति, वी.वी. गोखले, के.पी. जायसवाल और विश्वंभरशरण पाठक प्रमाणपूर्वक इस मत का खण्डन करते हैं। इन विद्वानों का विचार है कि हमारे देश में इतिहास वैदिक काल से था, किन्तु उसका स्वरूप स्वदेशी है, न कि पाश्चात्य। इतिहास संबंधी भारतीय एवं पाश्चात्य अवधारणाओं में अंतर के कारण ही यह भ्रामक विचार फैला। यह तो ज्ञात है कि हमारे देश में अश्वमेध यज्ञ वैदिककाल से होते रहे हैं। यज्ञ की तैयारी के समय संबंधित चक्रवर्ती सम्राट् के प्रताप, शौर्य और वीरतापूर्ण कार्यों का बखान 'नाराशंसी' के रूप में छंदों में गाए जाने की प्रथा प्रचलित थी। राजाओं की ही नहीं ऋषियों की प्रशंसा के भी प्रमाण हैं। कुछ गाथाओं (दशराज्ञ) में ब्राह्मण पुरोहित वशिष्ठ की प्रशंसा की गई है जिसने सुदास को दश राजाओं पर विजय प्राप्त करने का मार्ग दिखाया। ऋग्वेद में ही इन्द्र की प्रशस्ति मिलती है। यही प्रशस्ति की परिपाटी आगे 'गाथा' और 'नाराशंसी' में मिलती है, जिसका अर्थ नर या श्रेष्ठ आदमी की प्रशंसा अर्थात् महापुरुषों की प्रशस्ति है।यह एक रचना की विधा थी। इसमें केवल यज्ञकर्त्ता राजा की ही नहीं वरन् देवों, ऋषियों और प्राचीन राजाओं की भी प्रशंसा के गीत गाए जाते थे। इस प्रकार की नाराशंसी और गाथाएँ जनमेजय-परीक्षित, मरुत्ऐक्ष्वाकु, कैव्य-पांचाल और भरत आदि प्रतापी सम्राटों के संबंध में ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलती है। बाद में यह कार्य सूतों और मागधों ने सँभाल लिया। यजुर्वेद और वायुपुराण में इनका उल्लेख मिलता है। ये लोग राजाओं, राजवंशों, उनके कार्यों तथा उनकी शासन-व्यवस्था का लेखा-जोखा रखते थे। मागधों सूतों का मुख्य कार्य देवों, ऋषियों और महापुरुषों तथा प्रतापी राजाओं की वंशावली तैयार करना था। सूत को पौराणिक भी कहते थे। वैसे तो आगे चलकर सूत-मागध शब्द भी पुराण इतिहास की तरह समानार्थी हो गए थे, पर मागध वंशावली रखते थे और सूत पुराण तैयार करते थे। पार्जिटर का कथन है कि उन्हीं सूतों ने राजवंशों की विरुदावलियाँ, प्रतापी राजाओं के शौर्यप्रताप की कहानियाँ एकत्र कीं, जो बाद में पुराणों में सम्मिलित की गईं और इतिहास का महत्त्वपूर्ण स्रोत बनीं[८]। सूत, वैशंपायन, लोमहर्षण आदि सूत ही थे। इनका उल्लेख प्राचीन भारतीय साहित्य में बराबर मिलता है। भारत के प्राचीनतम राजा 'पृथु' का उल्लेख सूत्रों ने किया है। इसी पृथु के नाम पर 'पृथ्वी' का नामकरण हुआ। पृथु का उल्लेख मेगस्थनीज और डायोडोरस जैसे विदेशी लेखक भी करते हैं[९]। सूत एक प्रकार के चारण थे जो विरुदावली गाते थे, वंशावली बखानते थे। बाद में ये शासकों की वंशावली बनाने और उसके रखरखाव के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्य में नियुक्त हो गए। सूतों द्वारा सुरक्षित वंशावली ही पुराणों में आई है। आगे चलकर वंशावली ऐतिहासिक रचना की प्रतिनिधि विधा बन गई। वंशलेखन की परंपरा ई.पू. चौथी शताब्दी तक इनके द्वारा चलती रही। नंदों और मौर्यों के समय वैदिक यज्ञ और कर्मकाण्ड शिथिल हो गए, तो वंश-रचना भी ठप हो गई। पुराणों से ही वंशावली लिखने की प्रेरणा बौद्धों और जैनों को भी मिली। बौद्ध-साहित्य में बुद्धवंश (सुत्तपिटक), दीपवंश और महावंश आदि रचनाएँ तथा जैनों में विमलसूरिकृत 'पउमचरिउ' या हरिवंश आदि वंशानुचरित ग्रन्थ है। परवर्ती जैन-साहित्य में इस प्रकार के चरित-काव्य प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में लिखे गए पुराणों की संख्या भी बहुत है। इनमें हेमचन्द्रकृत परिशिष्टपर्वन्, प्रमुख है, जिसमें आचार्यों, महापुरुषों की जीवनियाँ तो हैं ही, साथ ही साथ मौर्यकालीन इतिहास भी है। इसी क्रम में त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित, प्रभावकचरित आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

धीरे-धीरे भारतीय इतिहास-लेखन की मूल अवधारणा लुप्त होने लगी। सूतों का महत्त्व घट गया फिर भी वंशावलियाँ रखी जाती थीं। अर्थशास्त्र में राजकीय अभिलेखों को रखने के लिए 'गोप' नामक पदाधिकारी की चर्चा मिलती है। ये गोप दस-पाँच गाँवों के निवासियों का आर्थिक, व्यापारिक, सामाजिक विवरण रखते थे। ह्वेनसांग ने इस प्रकार के अभिलेख 'नि-लो-पी-वा' देखे थे, जिनमें दैवी आपदाओंतथा प्रजा की स्थिति का विवरण रहता था। नगरकोट के किले में शाही वंश की वंशावली अल्बरूनी ने भी देखी थी[१०]। प्रशासन में एक स्वतंत्र विभाग अक्षपटलिक के अधीन यही काम करता था। मौर्यों ने पुरालेख-संग्रहालयों की परिपाटी चलाई थी। यहीं से लेखकों ने पुराणों के लिए सामग्री एकत्रित की। संभवतः इसीलिए विभिन्न पुराणों में कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः एकरूपता है। हमारे पुराण ग्रन्थों तथा इतिहास-ग्रन्थों में केवल इतिवृत्त ही नहीं रहता था, अर्थात् ऐतिहासिक व्यक्तियों और पात्रों का विवरण ही नहीं दिया जाता था, बल्कि उनकी रानजीतिक, सामाजिक, नैतिक और आर्थिक परंपराओं का वर्णन तथा तत्संबंधी संस्थाओं के क्रिया-कलाप भी वर्णित रहते थे। महाभारत को इसी अर्थ में इतिहास कहा गया है।

प्रमुख जैन-इतिहासकार जिनसेन ने 'आदिपुराण' में इतिहास की व्याख्या करते हुए लिखा है कि इतिहास रोचक विषय है। इसमें इतिवृत्त, ऐहित्य और आम्नाय भी सम्मिलित होता है। इसे आर्ष भी कहते हैं, क्योंकि यह ऋषिप्रोक्त है। यह अच्छी और मनोहरकथा वार्ता द्वारा धर्मशास्त्र का उपदेश करता है[११]। बाद में इतिहास में परिगणित कई शास्त्र जैसे पुराण, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि का स्वतंत्र विकास हुआ और इतिहास की अवधारणा संकुचित हो गई। यह भूतकाल की घटनाओं का अभिलेख मात्र समझा जाने लगा। इतिहास-लेखक राजदरबारी कर्मचारी हो गए। परिणामतः इतिहास की अवधारणा में बड़ा फर्क पड़ा। पहले इतिहास का जो व्यापक स्वरूप था वह संकुचित हुआ। पहले इतिहास को वह पुरावृत्त माना जाता था, जिसमें नैतिक, आध्यात्मिक, लौकिक और सौन्दर्यमूलक प्रेरणा हो परंतु बाद में वह ऐसा विवरण मात्र रह गया जिसमें आश्रयदाता राजा के प्रताप और विजयों की गाथा प्रमुख रूप से अतिशयोक्ति-पूर्वक वर्णित हो। रानियों को राजश्री का पर्याय मानकर हर विजय के साथ एक रानी की प्राप्ति, उसके सौंदर्य-श्रृंगार की चर्चा एक काव्य रुढ़ि बन गई। लेखक इतिहासकार नहीं बल्कि कवि बन गया। कल्पना का विस्तार हुआ, इतिहास सिकुड़ता गया, यथातथ्य वर्णन बाधित होता गया। तिथिक्रम और वंशानुक्रम को इस प्रवृत्ति ने सबसे अधिक नुकसान पहुँचाया। प्रायः इतिहासकारों ने कवि की भूमिका का निर्वाह अधिक किया, इतिहासकार के कर्त्तव्य का पालन कम किया।

पाश्चात्य विचारकों में संभवतः 'हेरोडोटस' ने सर्वप्रथम 'हिस्ट्री' शब्द का प्रयोग किया। इस शब्द में स्टोरी (Story) भी आख्यान या पुरावृत्त का सूचक है। अतः रेनियर और हेनरी पेरी जैसे लेखक मानते हैं कि समाज में रहने वाले मनुष्यों के कार्यों एवं उनकी उपलब्धियों की कहानी ही इतिहास है। इतिहास को अतीत और वर्तमान का सेतु बताते हुए जॉन डिबी दोनों पर दोनों का अन्योन्य प्रभाव स्वीकार करते हैं। हमने राजधर्म एवं आध्यात्मिकता को प्रधान मानकर प्रारंभ में धार्मिक इतिहास लिखा, बाद में राजनैतिक लेखन भी हुआ पर यहाँ की तुलना में पश्चिम में प्रारंभ से ही भौतिक जगत् को प्रधान मानकर राजनीतिक और सामाजिक इतिहास लिखा गया। उसी को यथार्थ और वैज्ञानिक इतिहास की संज्ञा दी गई और हमारे पुराण-इतिहास-ग्रंथों को काल्पनिक और अनैतिहासिक घोषित कर दिया गया। पुराणों में वैवस्वत मनु से लेकर महाभारत-काल तक के राजवंशों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की एक सौ पीढ़ियों का उल्लेख मिलता है, जिसे इस लंबे अंतराल को देखते हुए कम बताकर विश्वसनीय नहीं माना गया। किन्तु पुराणों में केवल राजतन्त्रों को सम्मिलित किया गया उसमें उन गणराज्यों के शासन को नहीं गिना गया है जो लंबे समय तक चलते रहे थे। संभवतः पुराणों में कालगत व्यतिक्रम का दोष इसीलिए आया हो।

भूमिदान के समय दानपत्रों पर दाता राजा की वंशावली लिखे जाने का उल्लेख याज्ञवल्य, बृहस्पति और व्यास भी करते हैं, लेकिन बाद में विजेता शासकों ने इसमें काट-छाँट किया या नष्ट किया। कई वंशावलियों का अन्य ग्रन्थों में उल्लेख है पर वे ग्रन्थ लुप्त हो गए जैसे-अस्माकवंश, ससिवंश, क्षेमेन्द्रकृत नृपावली, हेलराजकृत पार्थिवावली, ११ राजकथा (कल्हण द्वारा उल्लिखित) आदि। भाग्यवश अतुलकृत मुशिकवंश एवं रुद्रकृत राष्ट्रौधवंश सुरक्षित हैं। सारांश यह कि वंशावलियाँ थीं पर वे नष्ट हो गईं। इसलिए कालगणना में व्यतिक्रम हो गया। इसीलिए यह कहना कि यहाँ इतिहास ही नहीं था या यहाँ के लेखकों में इतिहास-बोध नहीं था, गलत है।

वस्तुतः इतिहास-संबंधी अवधारणाओं का यह अंतर दो संस्कृतियों के अंतर के कारण है। भारतीय संस्कृति संश्लिष्ट संस्कृति है और अनेक को एक में मिलाकर बनी है। सच्चा इतिहासकार इन भेदों के भीतर छिपे ऐक्य-विधायक तत्त्वों को पहचानकर उनका उद्घाटन करता है न कि भारतीय महाप्रजा को निषाद, द्रविड, किरात, आर्य आदि खण्डों में बाँटकर अनेक स्पर्धात्मक संघर्षो को जन्म देता है। सच्चे इतिहासकार की दृष्टि में भारतीय इतिहास का आद्य देवता प्रजापति है और उसका आराध्य तत्त्व भारतीय महाप्रजा है। इस अखण्ड तत्त्व को नहीं भूलना चाहिए[१२]। भारतीय दृष्टि में अध्यात्म, दर्शन, ज्ञान और संस्कृति पर विचार करने के लिए एकत्र महासभा अधिक ऐतिहासिक घटना थी न कि किसी राजनेता की मृत्यु या किसी शासक के युद्ध इत्यादि की घटना। वह इतिहास जो भारतीय दृष्टि से ग्रन्थों में अंकित है उसे पाश्चात्य इतिहासकार इतिहास ही नहीं मानते। उनकी दृष्टि में महावीर की धार्मिक यात्राओं या गौतम के महाभिनिष्क्रमण से अधिक महत्त्वपूर्ण घटना कोलम्बस की यात्रा मानी जाती है। एक की यात्रा अनन्त की खोज के लिए थी, दूसरे की देशों पर विजय के लिए थी। संस्कृतियों का यही भेद इतिहास-दर्शन और उसकी दृष्टि में अंतर उत्पन्न करता है। आधुनिक भारतीय एवं पाश्चात्य इतिहासकारों द्वारा राजछत्रों के इतिहास पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। परन्तु सच्चा इतिहास प्रजा के आदर्शों के उत्थानपतन के साथ गतिशील होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इतिहास संबंधी अवधारणाओं में काफी वैषम्य है। केवल राजनीतिक इतिहास ही सही इतिहास नहीं है या केवल भूतकालीन घटनाओं का विवरण मात्र इतिहास नहीं है और न ही केवल राजा, सामंत, राजपुत्र या राजपुरुषों का वर्णन ही इतिहास है। इतिहास का विषय प्रजातन्त्र, प्रजा, उनके उत्थान-पतन, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति का लेखा-जोखा भी है। सी.एच. फिलिप्स ने अपनी पुस्तक में एक महत्त्वपूर्ण बात कही है, वह यह कि 'इस ग्रन्थ के विभिन्न ख्यातिलब्ध विद्वान इतिहास-लेखन की कोई सर्वसम्मत परिभाषा नहीं दे सके हैं'[१३]। मेरी दृष्टि में इसका कारण यही होगा कि वे भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण में सामंजस्य नहीं स्थापित कर सके।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में इतिहास की स्पष्ट अवधारणा थी। इसके प्रमाण में एक भारतीय इतिहासकार 'कल्हण' के विचार अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रासंगिक हैं। वह कहता है कि इतिहासकार का पवित्र कर्त्तव्य व्यतीत युग का सच्चा चित्र पाठक के समक्ष प्रस्तुत करना है। मिथकीय अमृत किसी एक व्यक्ति को अमरत्व प्रदान कर सकता है, किन्तु ऐतिहासिक सत्य के लेखन द्वारा इतिहासकार अनेक महापुरुषों के साथ स्वयं को भी अमर कर देता है। इतिहासकार का लक्षण बताता हुआ वह कहता है कि अनासक्त होना और रागद्वेष से दूर रहना इतिहासकार का प्रथम गुण है। समीक्षात्मक बुद्धि और संदेहवादी विचारणा इतिहास-लेखक को प्रथम श्रेणी का इतिहासकार बनाते हैं[१४] कल्हण ने उन्हीं आदर्शों के अनुसार काफी खोजबीन के पश्चात् काश्मीरी शासकों और वहाँ की यथार्थ राजनैतिक घटनाओं को आधार मानकर इतिहास लिखा। किन्तु प्रायः अन्य लेखकों ने इन आदर्शों का पालन नहीं किया। अपने नायक के गुणों को लिखने की प्रवृत्ति, काव्यात्मक कल्पना, काल तथा तिथिक्रम की उपेक्षा आदि के कारण उनके लेखन में वह उदात्त रूप नहीं मिलता जो रागद्वेष से ऊपर उठकर, गुणदोष का सम्यक् विवेचन करके तथा घटनाओं का यथातथ्य विवरण देकर कल्हण ने अपनी रचना में प्रस्तुत किया है। जैन रचनाकार भी इस प्रवृत्ति से अछूते नहीं रहे। उन्होंने महत्त्वपूर्ण पात्रों और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उससे संबंधित घटनाओं को धार्मिक सिद्धान्तों के दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसके कारण घटनाएँ और पात्र क्रमशः रुढ़ होते गए और ऐतिहासिक तथ्य दब गए। उदाहरणार्थ-पज्जोत (प्रद्योत), बिंबसार, अजातशत्रु और नरवाहन आदि की कथाएं प्रायः इसी रूप में प्रस्तुत होती रहीं? इस प्रकार इतिहास-ग्रंथ क्रमशः मिथक या लीजेण्ड बनते गए। किन्तु इस आधार पर यह कथन कि हमारे यहाँ इतिहास-ग्रन्थ नहीं लिखे गए या एकमात्र इतिहास ग्रन्थ कल्हण-कृत राजतरंगिणी ही लिखा गया, गलत होगा।

भारत में विशुद्ध रूप से इतिहास ग्रन्थों की कमी के कई कारण हैं। यहाँ अतीत की स्मृति इतिहास के रूप में नहीं रखी गई। हमने अतीत के दो प्रकार माने हैं। एक मृत अतीत जैसे व्यक्ति और घटनाएँ आदि, दूसरा जीवन्त अतीत अर्थात् परंपराएँ। भारत में परंपराओं की सुरक्षा का प्रयास इतिहास लिखकर नहीं प्रत्युत क्रियात्मक स्तर पर सबको परंपरा की सुरक्षा में सहभागी बनाकर किया गया। इतिहास-ग्रन्थों में गड़बड़ी का एक कारण यह भी था कि ऐतिहासिक ग्रन्थों को समय-समय पर परिवर्तित-परिवर्द्धित किया गया, पर प्राचीन मूल पाठ को नवीन परिवर्द्धन से अलग नहीं किया गया। परिवर्द्धनकर्ता और मूल लेखक का परिचय भी कई स्थलों पर अलग-अलग नहीं देने से कृति एवं कृतिकार में घपला हुआ। इसी प्रकार इतिहास-ग्रन्थों में से ऐतिहासिक एवं अनैतिहासिक घटनाओं को छाँटकर अलग नहीं किया गया। इतिहासकारों ने इतिहास-लेखन से अधिक काव्यलेखन को वरीयता दी। यही नहीं अर्थ और राजशक्ति की अपेक्षा मोक्ष और धर्मशक्ति को अधिक महत्त्व देने के कारण हमारे यहाँ सेक्युलर साहित्य की तुलना में धार्मिक और आध्यात्मिक साहित्य ही अधिक लिखे गए। इतिहास-ग्रथों की कमी का कारण उनका कम लिखा जाना तो है ही पर इसके अन्य कई कारण भी हैं। यदि राजतरंगिणी जैसी ऐतिहासिक रचना काश्मीर में लिखी जा सकती थी तो अन्यत्र भी अवश्य ही लिखी गयी होगी। राजनीतिक रचनाओं और अभिलेखों का उत्तर भारत में एकबारगी लोप होने का प्रमुख कारण कम्बोडिया, जावा की तरह विजेता राजवंशों या राजाओं द्वारा विजित राजा के अभिलेखों को नष्ट करना भी रहा है। काश्मीर आदि सुदूर प्रांतों की अपेक्षा उत्तर भारत और मध्य भारत पर बराबर आक्रमण होते रहे और देशी राजे-रजवाड़े भी आपस में प्रायः लड़ते रहे। इस राजनीतिक उथल-पुथल के कारण राजनीतिक अभिलेख लगातार नष्ट किए जाते रहे। धार्मिक दृष्टिकोण एवं धार्मिक साहित्य आदि को भण्डार आदि में सुरक्षित रखने के कारण प्रायः वे बचे रहे किन्तु मुस्लिम-आगमन के साथ स्थिति भिन्न हो गई। इसके विपरीत तिब्बत, नेपाल और काश्मीर आदि दूर देशों में जहाँ निरंतर युद्ध आदि नहीं हुए वहाँ राजनीतिक इतिहास भी बचा रहा जो यह सिद्ध करने के लिए काफी है कि यहाँ इतिहास-ग्रंथों की रचना तो हुई पर वे नष्ट कर दिये गये। इसीलिए भारतीय आदर्श इतिहासकार का प्रतिनिधित्व अकेले कल्हण ही करता है। पुराणों में उल्लिखित राजवंशों के आधार पर देश का राष्ट्रीय इतिहास और इसका विकास प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत के निरंतर बदलते मानचित्र पर प्रदर्शित करना भी कठिन था। इसलिए समग्र राष्ट्रीय इतिहास और उसका विकास कदाचित् न लिखा जा सका हो और अलग-अलग राज्यों और प्रदेशों पर आधारित काव्य-शैली में ग्रन्थों का लिखा जाना ही संभव हुआ हो। सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राटों का उल्लेख अवश्य किया गया और ऐसे ही सम्राटों की वीर गाथाएँ पुराणों में संकलित हैं। बाद के लेखकों ने कुमारपाल-चरित, विक्रमांक देव-चरित आदि की तरह व्यक्तिगत राजाओं का आख्यान या इतिवृत्त लिखा जिसमें क्रमशः इतिहास पुराकथा बनता गया है।

जैन लेखकों द्वारा इस प्रकार की तमाम रचनाएँ की गईं, जिनमें चालुक्यों, चावड़ों, परमारों, पालों आदि का इतिहास पुराण, चरितकाव्य, चौपई, प्रबंध आदि के रूप में सुरक्षित है। कुमारपालचरित, द्वयाश्रयकाव्य, परिशिष्टपर्वन्, सुकृत-संकीर्तन, कीर्ति-कौमुदी, प्रभावकचरित, प्रबंधचिंतामणि आदि रचनाओं में राजाओं, महात्माओं और तीर्थंकरों तथा शलाकापुरुषों का इतिहास कल्पना और जैन सिद्धान्त के रंग में रंगकर प्रस्तुत किया गया है। इनमें कथा या काव्य का आनंद उत्पन्न करने के लिए यथार्थ घटनाओं और ऐतिहासिक तथ्यों को मनोरंजक बनाने की दृष्टि से तोड़ा-मरोड़ा गया। यह सभी प्राचीन भारतीय इतिहासकारों पर लागू होता है, केवल जैन इतिहासकार ही अपवाद नहीं है। ऐतिहासिक प्रबंधकाव्य, चरितकाव्य, जीवनियों का प्रचलन पूर्व मध्यकाल में अधिक हुआ जिसमें जैनों का योगदान महत्त्वपूर्ण है। बाणकृत हर्षचरित इसका प्रारंभिक प्रमाण है। यह ऐतिहासिक काव्य माना जाता है। पाश्चात्य विद्वान् इसे पूर्णतया ऐतिहासिक नहीं मानते। वस्तुतः सत्य दो प्रकार का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माना गया है, एक निरपेक्ष सत्य और दूसरा सापेक्ष सत्य (नाम, रूप आदि) जो निरंतर परिवर्तनीय है। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में इतिहास का संबंध इसी दूसरे दर्जे के सत्य से है। यह मान्य तथ्य है कि भारतीयों ने प्रथम कोटि के सत्य पर अधिक बल दिया, इसलिए दोनों की इतिहास-संबंधी अवधारणाओं में बड़ा अंतर है। उन्होंने इतिहास का अर्थ केवल राजनीतिक घटनाओं का वर्णन और राज्यों के उत्थान-पतन की कथा ही नहीं माना था। इतिहास किसी राष्ट्र अथवा समाज द्वारा अपने अतीत में मूल्यवान समझी जाने वाली धरोहर की रक्षा का समुचित साधन है। पद्मगुप्तकृत नवसाहसांकचरित, वाक्पतिराजकृत गउडवहो, अश्वघोषकृत बुद्धचरित, मेरुतुंगकृत प्रबंधचिंतामणि, विल्हणकृत विक्रमांकदेवचरित आदि ग्रन्थ भारतीय दृष्टि से समर्थित इतिहास है।

इतिहास की प्राचीन एवं आधुनिक परिभाषा का समन्वय करते हुए बी.एस. आप्टे ने अपने संस्कृत्-हिन्दी कोश में जो परिभाषा दी है, वह पर्याप्त संतोषजनक है। उन्होंने लिखा है कि इतिहास से अभिप्राय उन व्यतीत घटनाओं से है, जो कथायुक्त हों तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का संदेश दें[१५]। भारतीय इतिहास का सम्यक् लेखन भारतीय समाज और संस्कृति की संश्लिष्ट संरचना को ध्यान में रखकर ही किया जा सकता है। इतिहास का अध्ययन करने के लिए संश्लेषणात्मक दृष्टि न साथ ही विश्लेषणात्मक दृष्टि भी आवश्यक है इसलिए दोनों दृष्टियों में सामंजस्य बैठाए बिना इतिहास का अध्ययन सम्भव नहीं हो सकता। किसी देश का प्रामाणिक इतिहास लिखने के लिए एक समन्वित और समग्र दृष्टिकोण को आधार मानकर चलना उपयोगी है, क्योंकि इतिहास एक तरफ तो घटनाओं का वैज्ञानिक विवेचन करने के लिए वस्तुनिष्ठ अध्ययन की अपेक्षा रखता है, वहीं दूसरी ओर घटनाओं की व्याख्या में व्याख्याता का निजी दृष्टिकोण भी महत्त्वपूर्ण होता है।

इस कसौटी पर हम देखें तो अनेक जैन-ग्रन्थ पर्याप्त ऐतिहासिक महत्त्व के सिद्ध होते हैं। जैसे--नन्दीसूत्र, कल्पसूत्र, हरिवंशपुराण, तिलोयपण्णत्ति, परिशिष्टपर्वन, द्वयाश्रयकाव्य, कुमारपालचरित, कुमारपालभूपालचरित आदि। इसी क्रम में सोमेश्वरकृत कीर्ति-कौमुदी, अरिसिंहकृत सुकृत-संकीर्तन,सोमप्रभ कृत कुमारपालप्रतिबोध आदि भी उल्लेखनीय हैं। जैन-प्रबंधों में जिनचन्द्रकृत प्रबंधावली, प्रभाचंद्र-कृत प्रभावकचरित, मेरुतुंग कृत प्रबंधचिंतामणि और राजशेखरकृत प्रबन्धकोश की इतिहास के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण मान्यता है। इन ग्रन्थों से सातवाहनों, चाहमानों, चालुक्यों, चावडों, परमारों आदि का इतिहास ज्ञात होता है।

सन्दर्भ

१. बी.एस.पाठक, एन्शियन्ट हिस्टारियन्स ऑफ इण्डिया, पृ. ३
२. कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र, अनु. - सामशास्त्री, खण्ड - १, तृतीय अध्याय, पृ. ७-१०
३. इतिहास स्वरूप और सिद्धान्त, सम्पा. - डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, पृ ५२
४. बी.एस. पाठक, एन्शियन्ट हिस्टारियन्स ऑफ इण्डिया, पृ. २
५. अर्थशास्त्र, खण्ड १, तृतीय अध्याय, पृ. ७-१०
६. बी.एस. पाठक, एन्शियन्ट हिस्टारियन्स ऑफ इण्डिया, पृ. ६-७
७. डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, इतिहासदर्शन, पृ. ७
८. सी.एच. फिलिप्स, हिस्टारियन्स ऑफ इण्डिया, पाकिस्तान व सिलोन पृ. १५ - १६
९. भारतीय इतिहास-लेखन की भूमिका, अनु. - प्रो. जगन्नाथ अग्रवाल पृ., २१
१०. बी.एस. पाठक, एन्शियन्ट हिस्टारियन्स ऑफ इण्डिया, पृ १९
११. आदिपुराण१/२४-२५
१२. वासुदेव शरण अग्रवाल, इतिहासदर्शन, पृ. १
१३. सी.एच.फिलिप्स, हिस्टारियन्स ऑफ इण्डिया, पाकिस्तान व सिलोन, प्रस्तावना, पृ. १
१४. वही, पृ. २१
१५. बी.एस.आप्टे - संस्कृत-हिन्दी कोश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैदिक एवं श्रमण-वाङ्मय में नारी-शिक्षा

डॉ. सुनीता कुमारी...
बी.एस.एम.कॉलेज, रुड़की

शिक्षा प्राप्त करना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में समाज के सभी सदस्य सहभागी बन सकते हैं। इसमें किसी प्रकार का भेद नहीं होना चाहिए, परंतु दुर्भाग्यवश इस क्षेत्र में विविध प्रकार के भेद किए गए हैं। कभी जन्म के आधार पर, कभी वर्ण के आधार पर, कभी कर्म के आधार पर इस प्रकार के विभिन्न भेद शिक्षा के क्षेत्र में मिल जाते हैं। यद्यपि इन सबके कई कारण बताए जाते हैं, लेकिन आज ये मान्यताएँ लगभग समाप्तप्राय हो गई हैं। आज जो भी व्यक्ति शिक्षा ग्रहण करना चाहता है, वह विविध प्रकार की शिक्षाओं को प्राप्त कर सकता है। नारी-शिक्षा भी आज एक ज्वलंत प्रश्न है। प्राचीनकाल से लेकर आज तक स्त्रियों ने शिक्षा-जगत् के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। सभी ने उसकी बुद्धिमत्ता और कुशलता को सराहा है। लेकिन यहाँ ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है, जहाँ स्त्रियों को शिक्षा ग्रहण करने से रोका गया है। उनकी प्रतिभा को दबाकर उनकी भावनाओं को कुण्ठित करने का प्रयत्न हुआ है। इनके चाहे जो भी कारण रहे हों, परंतु सामाजिक सुव्यवस्था हेतु स्त्रियों का शिक्षित होना अत्यंत आवश्यक है। क्योंकि वास्तव में स्त्रियों को ही गृहस्थी की सुव्यवस्थित संचालिका एवं समाज की नीति-निर्देशिका होने का गौरव प्राप्त है।

शिक्षा का स्वरूप

शिक्षा का अर्थ 'सीखना' है। सीखने की यह प्रक्रिया मनुष्य के जन्म लेने से ही प्रारंभ हो जाती है और मृत्युपर्यंत चलती रहती है। उसकी सीखने की यह प्रवृत्ति ही उसे सुसंस्कृत बनाती है और वह नैष्ठिक आचरण की ओर प्रवृत्त होता है। उसकी यह प्रवृत्ति उसके व्यक्तित्व का निर्धारक होने के साथ-साथ उसकी सामाजिक अभिवृत्ति का भी परिचय देती है। प्राचीनकाल में भारतीय चिंतकों ने मनुष्य की आध्यात्मिक वृत्ति को उसके व्यक्तित्व-निर्माण एवं सामाजिक अभिप्रेरणा का मूल कारण माना है, जिसकी अंतिम परिणति मोक्ष, कैवल्य अथवा ब्रह्म-प्राप्ति है। वस्तुतः शिक्षा का यही वास्तविक स्वरूप है। ब्रह्म वह चरम सत्ता है जिसमें समस्त भासमान जगत् परिव्याप्त है।[१] शिक्षा के द्वारा इस ब्रह्म को प्राप्त कर मनुष्य समस्त संसार को अपने गुणों से परिव्याप्त कर देता है।

मनुष्य के समक्ष लौकिक एवं आध्यात्मिक ये दो प्रकार की आवश्यकताएँ रहती हैं। इन दोनों की सम्यक् पूर्ति करना मनुष्य का धर्म है। शिक्षा मनुष्य को उसके इस धर्म से अवगत कराती है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है[२] - ज्ञान (शिक्षा) की प्रतिष्ठा बनाए रखना व्यक्ति का नैतिक धर्म है। स्वाध्याय एवं प्रवचन से मनुष्य का चित्त एकाग्र हो जाता है। वह स्वतंत्र बन जाता है। नित्य उसे धन प्राप्त होता है। वह सुख से सोता है। वह अपना परम चिकित्सक बन जाता है। वह इंद्रियों पर संयम रखने की कला से अवगत हो जाता है। उसकी प्रज्ञा बढ़ती है। वह यश को प्राप्त करता है। शतपथ ब्राह्मण का यह कथन शिक्षा के स्वरूप को स्पष्ट कर देता है। यहाँ शिक्षा इंद्रियसंयम, यशवृद्धि, प्रज्ञावृद्धि, चित्त-एकाग्र तथा नैतिक धर्म इन सबको प्राप्त कराने की सामर्थ्य से युक्त मानी गई है। इन विविध रूपों में शिक्षा मनुष्य को लौकिक सुख के साथ-साथ आध्यात्मिक सुख भी प्राप्त कराती है। क्योंकि शतपथ ब्राह्मण में शिक्षा को धन प्राप्त कराने वाला एवं सुखपूर्वक निद्रा दिलाने वाला भी कहा गया है।

जैन-परंपरा में शिक्षा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है[३] - शिक्षा मनुष्य को पूर्ण करने वाली कामधेनु है। शिक्षा ही चिंतामणि है। शिक्षा ही धर्म है तथा कामरूप फल से रहित सम्पदाओं की परंपरा उत्पन्न करती है। शिक्षा ही मनुष्य का बंधु है, शिक्षा ही मित्र है, शिक्षा ही कल्याण करने वाली है, शिक्षा ही साथ ले जाने वाला धन है और शिक्षा ही सब प्रयोजनों को सिद्ध करने वाली है। मनुष्य अपने आप में कभी पूर्ण नहीं हो सकता, लेकिन शिक्षा उसकी अपूर्णता को दूर कर उसे पूर्ण बनाती है। मनुष्य के समक्ष विविध प्रकार की समस्याएँ रहती हैं, जिन्हें वह हल नहीं कर पाता है। परंतु शिक्षा उसे एक ऐसा माध्यम प्रदान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करती है, जिसकी सहायता से वह अपने मनोरथों को पूर्ण करता है। मनोरथों का जाल बहुत घना है। आसक्ति इसे और भी कठिन बना सकती है। शिक्षा मनुष्य को इसका बोध कराती है और व्यक्ति अनासक्त भाव से अपने प्रयोजनों को पूर्ण करता है। उसकी यही अनासक्ति कामरूप फल से रहित सम्पदाओं की परंपरा उत्पन्न करती है।

शिक्षा एक सामाजिक संविदा है। यह मनुष्य को समाज द्वारा स्वीकृत मूल्यों और मान्यताओं से अवगत कराती है। यह मनुष्य की मानसिक जिज्ञासाओं को शांत रखने का मार्ग सुलभ कराती है। जिन पर चलकर वह विविध प्रकार के कला-कौशल का ज्ञान प्राप्त करता है। वह जितना ही अधिक इस दिशा में अग्रसर होता है, उतना ही अधिक सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करता जाता है। शिक्षा के कारण उसके अंतर्मन के चक्षु इतने अधिक विकसित हो जाते हैं, कि वह विभिन्न प्रकार के रहस्यों को उद्घाटित करने लगता है। महाभारत में कहा भी गया है कि शिक्षा के समान कोई तीक्ष्ण चक्षु नहीं है।[४] शिक्षा की यह तीक्ष्णता ही उसकी शक्ति है। उसकी शक्ति की इस परिधि से संसार का कोई भी तत्त्व बाहर नहीं जा सकता। सम्पूर्ण तत्त्वों का दिग्दर्शन शिक्षा के द्वारा संभव है। इसीलिए ज्ञान (शिक्षा) को मनुष्य का तृतीय नेत्र कहा जाता है, जो सभी प्रकार के तत्त्वों के दिग्दर्शन की क्षमता रखता है।[५] ज्ञान (शिक्षा) व्यक्ति में शक्ति का संचार करता है, जिसकी सहायता से वह यथार्थ-अयथार्थ, सम्यक् असम्यक् तत्त्वों के स्वरूप से अवगत होता है। वह इस स्तर पर अपने को प्रतिष्ठापित कर लेता है कि हेय-उपादेय के बीच अंतर स्थापित कर सके।

प्रकाश और अंधकार मानव जीवन के दो विरोधी पक्ष हैं। प्रायः मनुष्य प्रकाश को ही अपनाना चाहता है। अंधकार को अज्ञान अथवा अशिक्षा का पर्याय माना गया है। शिक्षा के द्वारा अज्ञानरूपी इस अंधकार को मिटाया जा सकता है। इसीलिए बहुधा यह कहा गया है कि मनुष्य को शिक्षा रूपी प्रकाश से युक्त होना चाहिए। शिक्षा का यह प्रकाश मानव-जीवन में मूलभूत परिवर्तन ला सकता है। वह उसे चरमपद पर आरूढ़ करा सकता है। आत्म-साक्षात्कार करा सकता है। दशवैकालिक में कहा गया है[६]-- आत्मा को धर्म में स्थापित करने के लिए अध्ययन करना चाहिए। अध्ययन शिक्षा का अविभाज्य अंग है। बिना अध्ययन किए शिक्षा की प्राप्ति शायद ही संभव हो। चाहे यह पारंपरिक विधि से ग्रहण किया गया हो अथवा गैर परंपरागत विधि से। आत्मा को धर्म में स्थित किए बिना आत्म-साक्षात्कार संभव नहीं है। आत्म-साक्षात्कार किए बिना चरमपद भी नहीं पाया जा सकता है। अतः अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करने और चरमपद की अभिलाषा रखने वालों को शिक्षा रूपी प्रकाश से युक्त होना चाहिए।

यहाँ चरमपद से हमारा तात्पर्य मनुष्य की उस अवस्था से है, जहाँ वह, पूर्ण ज्ञानी है। अतः उसे समस्त प्रकार के बोधों से युक्त होना चाहिए। वह परम सत्य की ज्योति का साक्षात्कार करने की अवस्था से युक्त हो। इस रूप में शिक्षा का व्यापक अर्थ माना जाता है तथा इसकी एक विशेष विधि भी मान्य की गई है। यह विधि है श्रवण, मनन और निर्विध्यासन । इस विधि को अपनाकर व्यक्ति पूर्ण बोध से युक्त हो जाता है। वह परम सत्य की ज्योति का साक्षात्कार करने लगता है। वह अपने स्वरूप में रमण करने लगता है। वह आत्मधर्म की अवस्था से अवगत होने लगता है। उसके जीवन का परम लक्ष्य क्या है? वह कौन है? आदि कितने ही महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के समाधान की ओर अग्रसर होता है। थोड़े शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा का एक रूप मनुष्य को उसके परम लक्ष्य या ध्येय से अवगत कराना भी है।

उपर्युक्त चिंतन शिक्षा के विविध रूपों को स्पष्ट करता है, जो इसके विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालता है। शिक्षा के निम्न लिखित स्वरूप हो सकते हैं--१. मूल्यों और सामाजिक मान्यताओं का निर्धारण करने वाली एक सामाजिक प्रक्रिया, २. मनुष्य को उसके कर्त्तव्यों से अवगत कराने वाली एक विधि, ३. अज्ञानरूपी अंधकार को दूर कर विविध प्रकार के कला, कौशल, विज्ञान एवं तकनीक से मनुष्य को समृद्ध करने वाली क्रिया, ४. मनुष्य को सांसारिक वैभव, सुख-समृद्धि प्रदान कराने वाली प्रक्रिया, ५. मनुष्य के अंतः और बाह्य व्यक्तित्व का निर्माण, ६. आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करने वाली क्रियाएँ, ७. मनुष्य को आत्मस्वरूप में स्थित करना, ८. परम सत्य की ज्योति का साक्षात्कार कराना आदि। प्रत्येक रूप में शिक्षा मनुष्य के लिए अत्यंत उपयोगी है, जिसका मुख्य प्रयोजन मनुष्य को लौकिक एवं पारलौकिक सुख प्रदान करना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिक्षा का साधन

शिक्षा एक प्रक्रिया है, जो ग्रहण की जाती है। ग्रहण करने की प्रक्रिया शिशु के जन्म से प्रारंभ होकर मृत्युपर्यंत चलती रहती है। शिक्षा के साथ भी यही होता है। बालक किसी कुल या परिवार में जन्म लेता है और वही परिवार उसकी प्रथम या प्रारंभिक शिक्षाशाला होती है। शिक्षा का प्रारंभिक ज्ञान परिवार में प्राप्त करने के बाद एक विशेष काल में शिशु बाह्य जगत् में बनी हुई विभिन्न शालाओं में प्रवेश लेकर विविध प्रकार की विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करता है। प्राचीन काल में शिक्षा की मौखिक परंपरा चला करती थी और विद्यार्थी स्मृति के आधार पर शिक्षा ग्रहण करते थे। वैदिक युग में ऋषिकुल की परंपरा थी और ऋषिगण अपने पुत्रों को मौखिक शिक्षा दिया करते थे। शिक्षा की यह परंपरा पारिवारिक संस्था के रूप में स्थापित थी।[७]

पारिवारिक शिक्षा-दान की यह परंपरा बहुत काल तक चलती रही। बाद में यज्ञ-विधानों तथा इसी तरह की अन्य जटिलताओं के कारण गुरुकुलों की स्थापना हुई। इनमें ऋषि - पुत्रों के साथ-साथ समाज के अन्य लोग भी शिक्षा ग्रहण करने लगे।[८] इन गुरुकुलों में शास्त्रीय शिक्षा के साथ-साथ सामाजिक दायित्व का भी ज्ञान विद्यार्थियों को कराया जाता था। यद्यपि गुरुकुलों में बालकों को ही शिक्षा दी जाती थी, परंतु यहाँ कन्याएँ भी शिक्षा प्राप्त करती थीं। वे विद्याग्रहण करने के साथ-साथ शास्त्रों की भी रचना किया करती थीं। इस अनुक्रम में विश्ववारा, घोषा, लोपामुद्रा आदि विश्वविश्रुत नारियों का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। उन्होंने वैदिक (ऋग्वेद) मंत्रों की रचना की थी।[९] शास्त्र-रचना के साथ-साथ स्त्रियाँ अध्यापन कार्य भी किया करती थीं। अध्ययन-कार्य में रत रहने वाली इन स्त्रियों को उपाध्याया कहा जाता था। ये स्त्रियाँ स्त्रीशालाओं का संचालन किया करती थीं, जिनमें बालिकाएँ विविध प्रकार की शिक्षा ग्रहण करती थीं।[१०]

वैदिक परंपरा की भाँति श्रमण-परंपरा में भी शिक्षा की मौखिक विधि ही स्वीकृति थी। यहाँ भी शिक्षा का हस्तांतरण पारिवारिक एवं पारम्परिक रूप में चलता था। ओघनिर्युक्ति में यह उल्लेख मिलता है कि एक वैद्य अपनी मृत्यु के पूर्व वैद्यक विद्या अपनी पुत्री को सिखा गया था।[११] श्रमण-परंपरा में भिक्षुणी-संघ एक महत्त्वपूर्ण संस्था थी। इस संघ में अनाश्रिता स्त्री, अनगार अवस्था को प्राप्त करने को इच्छुक नारी तथा सांसारिक जीवन की दुःखमयता के कारण इससे त्राण पाने वाली महिलाओं को प्रवेश दिया जाता था। ऐसी स्त्रियों को यहाँ शास्त्रीय शिक्षा का ज्ञान प्रदान कराया जाता था। इस संघ में प्रवेश की अनिच्छुक स्त्रियों को नियमित शास्त्रीय शिक्षा नहीं दी जाती थी।[१२] तात्पर्य यह है कि श्रमणपरंपरा में प्रायः उन्हीं स्त्रियों को शास्त्रीय शिक्षा दी जाती थी जो सांसारिक अवस्था को त्यागकर संन्यासमय जीवन को अपना लेती थीं या अपनाने को उद्यत रहती थीं।

स्त्रियों के शिक्षा ग्रहण करने के संबंध में वैदिक परंपरा में श्रमण-परंपरा की इन विधियों का अनुपालन नहीं होता था। यहाँ स्त्रियाँ एक ही अवस्था में संसारिक एवं शास्त्रीय दोनों शिक्षा ग्रहण कर सकती थीं। यहाँ स्त्रियाँ-सद्योवधु एवं ब्रह्मवादिनी इन दो रूपों में शिक्षा ग्रहण कर सकती थीं। सद्योवधु विवाह के पूर्व वैवाहिक जीवन की आवश्यकतानुसार कुछ मंत्रों का अध्ययन कर लेती थी, जबकि ब्रह्मवादिनी अपनी शिक्षा को पूर्ण करके ही विवाह करती थी। यंज्ञवल्क्य ऋषि की दो पत्नियाँ थीं-मैत्रेयी और कात्यायनी। मैत्रेयी जहाँ ब्रह्मवादिनी थी वहीं कात्यायनी गृहस्थधर्मा।[१३] यहाँ वैदिक और श्रमण परंपरा का अंतर स्पष्ट परिलक्षित होता है। श्रमणपरंपरा में जहाँ संन्यास मार्ग की ओर प्रवृत्त स्त्री को शास्त्रीय शिक्षा देने का प्रावधान है, वहीं वैदिक परंपरा में गृहस्थ और पारिवारिक जीवन बिताने वाली स्त्री भी शास्त्रीय शिक्षा से युक्त होती है।

वैदिक परंपरा में स्त्रियों को पारिवारिक संस्था के साथ-साथ गुरुकुलों में भेजकर शास्त्रीय ज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। प्रायः इसे एक आवश्यक कार्य माना जाता था। लेकिन श्रमण -परंपरा में विशेषरूप से बौद्ध युग के प्रारंभिक काल तक नारी शिक्षा का प्रचलन समाप्तप्राय हो गया था।[१४] स्त्री को विवाह के पूर्व और पश्चात् केवल कुशल गृहिणी बनने की ही शिक्षा दी जाती थी। इसका प्रधान कारण यह था कि उस काल में स्त्रियों को दी जाने वाली शास्त्रीय शिक्षा निरर्थक समझी जाती थी।[१५] प्रायः संन्यास-मार्ग की ओर प्रवृत्त तथा भिक्षुणी बनने वाली स्त्रियों को ही भिक्षुणी-संघ में शास्त्रोचित ज्ञान दिया जाता था। श्रमण-साहित्य में कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जहाँ इस बात का उल्लेख किया गया है कि वैदिक परंपरा की भाँति श्रमण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परंपरा में भी स्त्रियां गुरुकुल में शिक्षा ग्रहण करती थीं।

शिक्षण-विधि

शिक्षा प्राप्त की जाती है और इसे प्राप्त करने के लिए विशेष प्रकार की विधि अपनाई जाती है। शिक्षण-विधि में लेखन और मौखिकी दोनों प्रकार की प्रक्रियाएँ स्वीकृत हैं। लेखन अथवा मौखिकी दोनों में ही भाषा का प्रयोग होता है। प्राचीनकाल में जब लेखन-कला का अविष्कार नहीं हो पाया था, वैदिक एवं श्रमण दोनों ही परंपराओं में मौखिक विधि का प्रयोग किया जाता था। शिक्षण-विधि स्मृति पर आधारित थी। भाषा के प्रयोग के रूप में जहाँ वैदिक परंपरा में प्रायः संस्कृतनिष्ठ शब्दों का उपयोग होता था वहीं श्रमण-परंपरा में लोकभाषा (प्राकृत, पालि आदि) अपनाई जाती थी। लेखन-कला का अविष्कार होने के बाद भी यही परंपरा चलती रही। परिणामस्वरूप वैदिक परंपरा का अधिसंख्य साहित्य संस्कृत भाषा में निबद्ध है, जबकि श्रमण-परंपरा के ग्रंथ प्राकृत और पाली भाषा में मिलते हैं। बाद में श्रमण-ग्रंथ भी संस्कृत भाषा में रचे गए, लेकिन उसे श्रमण-साहित्य पर वैदिकों का प्रभाव ही माना जा सकता है।

प्राचीन काल में सम्पूर्ण शिक्षा मौखिक और स्मृति के आधार पर चलती थी। इसलिए उसे इस रूप में प्रस्तुत किया जाता था आसानी से याद किया जा सके। बात को अति संक्षिप्त और सूत्ररूप में प्रस्तुत किया जाता था। ताकि उसे उसी रूप में स्मृति में रखा जा सके। यही कारण है कि प्रारंभिक साहित्य, मंत्र, सूत्र आदि संक्षिप्त रूप में मिलते हैं। विषयों को कथाओं के रूप में भी प्रस्तुत किया जाता था, जिसके कारण मूल तत्त्वों को कथा-प्रसंगों के साथ याद रखना अधिक सुगम होता था। विषय-वस्तुओं को लौकिक दृष्टांतों अथवा जीवन के प्रसंगों के साथ तुलना करके प्रतिपादित किया जाता था। अतः बाद के ग्रन्थ विवरणात्मक शैली में रचे गए जिनमें सूत्रों की व्याख्या, कथानकों और दृष्टांतों के प्रयोग आदि होते थे।

प्रायः प्राचीन काल में दोनों ही परंपराओं में उपदेशमूलक शिक्षण-पद्धति स्वीकार की जाती थी। परंतु दोनों की विधियों में अंतर था। वैदिकों ने शब्दों को यथावत् रूप में स्वीकार किया जबकि श्रमण-परंपरा में शब्दों की जगह अर्थ को प्रधान माना गया। यही कारण है कि आज भी वैदिक साहित्य अपने मूल रूप में उपलब्ध हो जाता है, जबकि श्रमणग्रंथों में पाठभेद मिलता है। इसके पीछे प्रमुख कारण माना जा सकता है--श्रमण-परंपरा में लोकभाषा का प्रयोग। लोकभाषा स्थान-स्थान पर परिवर्तनीय रही है। फलस्वरूप श्रमण-परंपरा के ग्रंथ इस परिवर्तन से प्रभावित हुए और उनमें पर्याप्त पाठभेद मिलता है। यही पाठभेद श्रमण-साहित्य की अपनी विशेषता है जो उसे तत्कालिक लोकभाषा का प्रतिनिधित्व करने का गौरव प्रदान करती है।

उपर्युक्त चिंतन के आधार पर हम प्राचीन शिक्षण-विधि के विविध प्रतिरूपों तथा अपनाई जाने वाली भाषाओं को निम्न रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं--

* मौखिक एवं स्मृति-आधारित शिक्षा व्यवस्था
* सूत्रात्मक शैली
* कथा एवं दृष्टान्त-विधि
* उपदेशमूलक शिक्षा
* संस्कृत एवं
* लोकभाषा (पाली, प्राकृत आदि)

सहशिक्षा

शिक्षा शालाओं में ग्रहण की जाती है और इसे बालक एवं बालिकाएँ दोनों प्राप्त करते हैं। अतएव हमारे समक्ष इसके लिए एक व्यवस्था बनाने की समस्या आती है और इसके तीन संभावित प्रारूप हो सकते हैं--१. पुरुष-शिक्षा-शाला, २. स्त्री-शिक्षा-शाला और ३. मित्र-शिक्षा-शाला। शिक्षा-शालाओं की ये तीनों ही व्यवस्थाएँ आज मान्य हैं। वैदिक एवं श्रमण-परंपरा में शिक्षा शालाओं की क्या व्यवस्था थी? क्या आज की ही भाँति उस काल में भी यही तीनों व्यवस्थाएँ मान्य थीं अथवा कुछ और व्यवस्था स्वीकृत थी, आदि प्रश्नों पर विचार करना है।

सहशिक्षा से हमारा तात्पर्य शिक्षा-प्राप्ति की उस व्यवस्था से है, जहाँ स्त्री-पुरुष एक साथ शिक्षा ग्रहण करते हों। सहशिक्षा की यह व्यवस्था प्राचीनकाल में भी मान्य थी और आज भी प्रचलति है। कुछ चिंतकों ने इसे श्रेष्ठ माना है, जबकि कतिपय विद्वानों की दृष्टि में यह उचित नहीं है। उनके मतानुसार सहशिक्षा बालक-बालिकाओं के संस्कार को विकृत कर देती है। उनका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह मत है कि शिक्षा की यह व्यवस्था छात्रों को शिक्षा-प्राप्ति के मूल उद्देश्यों से विरत कर देती है। वे विपरीत-लिंगों के सामान्य आकर्षण में बँध जाते हैं। वे संस्कारों को ग्रहण करने की अपेक्षा कुसंस्कारों से अधिक आबद्ध हो जाते हैं। इसे पूर्णतः सत्य नहीं माना जा सकता है। कुछ आपवादिक उदाहरणों को छोड़कर बहुसंख्य प्रतिभाओं को सहशिक्षा की ही देन माना जा सकता है।

गुरुकुल जिन्हें प्राचीन काल में शिक्षा देने वाली प्रमुख संस्था का गौरव प्राप्त है, प्रायः बालकों को ही प्रवेश मिलता था। नारी-जाति में जन्म लेना यहाँ प्रवेश से वंचित रहने की एकमात्र अयोग्यता थी। लेकिन बाद में इस दिशा में मूलभूत परिवर्तन हुए और कन्याओं का भी प्रवेश गुरुकुलों में होने लगा। यहीं से सहशिक्षा रूपी शाला का प्रारंभ माना गया। वैदिक वाङ्मय में सहशिक्षा की स्थिति पर प्रकाश डालने के लिए आचार्य भवभूतिकृत उत्तररामचरित का दृष्टांत प्रस्तुत किया जा सकता है। वाल्मीकि-आश्रम में आत्रेयी लव-कुश के साथ शिक्षा प्राप्त करती थी। बाद में वह अगस्त्य मुनि के आश्रम में शिक्षा-ग्रहण हेतु प्रवेश लेती है।[१७] दो मुनियों के आश्रमों में स्त्री जाति को जिस प्रकार शिक्षा दी जा रही है वह सहशिक्षा की उत्तम व्यवस्था की सूचक अवश्य मानी जा सकती है।

जहाँ तक श्रमण-परंपरा की बात है तो यहाँ वैदिक-परंपरा की तरह स्त्रियों को शिक्षित नहीं किया जाता था। प्रायः कन्याओं को गृहस्थी संबंधी शिक्षा का ज्ञान कराया जाता था, जिसे वे अपने परिवार में सीख लेती थीं। यहाँ प्रायः कन्या से यही अपेक्षा की जाती थी कि वह गार्हस्थ-शिक्षा में निपुणता प्राप्त कर ले। शास्त्रीय शिक्षा को उनके जीवन में विशेषकर लौकिक जीवन में कुछ भी महत्त्व नहीं दिया जाता था। लेकिन -श्रमण परंपरा में गुरुकुल जैसी व्यवस्था का प्रारंभ हो जाने के बाद वहाँ शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्र-छात्राओं का उल्लेख हमारे समक्ष इस परंपरा में स्वीकृत सहशिक्षा-व्यवस्था का विवरण प्रस्तुत करता है [१८]।

शिक्षा के प्रकार

शिक्षा का क्षेत्र बहुत व्यापक है और इसके विविध रूप भी हैं। शिल्पज्ञान, नृत्यज्ञान, चिकित्सा-विद्या, आत्मविद्या, अध्यात्मज्ञान आदि रूपों में शिक्षा की विभिन्न कोटियाँ हैं। परंतु अगर स्थूल रूप में शिक्षा को वर्गीकृत किया जाए तो यह दो रूपों में विभाजित होगी। प्रथम लौकिक अथवा व्यवहारिक शिक्षा और द्वितीय आध्यात्मिक शिक्षा। शिल्प, नृत्य, गायन, वादन, चिकित्सा आदि लौकिक शिक्षा है, जबकि तत्त्वज्ञान, आत्मविद्या, ईश्वरमीमांसा आदि आध्यात्मिक शिक्षा है। मनुष्य के लिए ये दोनों ही आवश्यक हैं। जहाँ लौकिक शिक्षा मनुष्य की जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होती है, वहीं आध्यात्मिक शिक्षा मनुष्य को परम उपादेय के संबंध में बताती है। एक सांसारिक सुख एवं यश प्रदान करती है तो दूसरी पारलौकिक सुख प्राप्ति का साधन बनती है। भारतीय परंपरा में शिक्षा का यही उत्स माना गया है।

शिक्षा चाहे व्यवहारिक हो अथवा आध्यात्मिक दोनों के लिए व्यक्ति को स्वयं प्रयास करना पड़ता है। आध्यात्मिक शिक्षा के लिए संयमित आचरण तथा कर्मबंधनों को अल्प करने वाली विशेष प्रकार की क्रियाओं का आश्रय लिया जाता है। दूसरी तरफ व्यवहारिक शिक्षा के फिर विविध प्रकार के कर्म करने पड़ते हैं, जो प्रायः कर्मबंधनों को दृढ़ करते हैं। इस प्रकार की शिक्षा-प्राप्ति में व्यक्ति स्वार्थ एवं कषाय से ग्रस्त हो सकता है। इन प्रवृत्तियों से मुक्त रखने के लिए व्यक्ति को आध्यात्मिक शिक्षा दी जाती है जिसके आधार पर समाज में एक नैतिक व्यवस्था का निर्माण होता है। यह नैतिक व्यवस्था समाज की उन्नति का मार्ग प्रशस्त करती है और इस पर आरूढ़ होकर व्यक्ति लौकिक एवं पारलौकिक दोनों ही प्रकार के सुखों का उपभोग करने की क्षमता प्राप्त करता है।

गार्हस्थ्य, ललितकला, नृत्यकला, चित्रकला, गायन, वादन, शिल्प, राजनीति, वैद्यक आदि जीवनोपयोगी शिक्षाओं को व्यावहारिक शिक्षा कहा जाता है। मनुष्य के लिए ये महत्त्वपूर्ण मानी गई हैं। स्त्रियों की भागीदारी शिक्षा के विविध क्षेत्रों में रही है। गार्हस्थ शिक्षा स्त्रियाँ अपने परिवार में सीखती थीं। ऋग्वेद में यह स्पष्ट किया गया है कि स्त्रियाँ (कन्याएँ) माता के साथ गृहकार्य में हाथ बँटाने के साथ-साथ पिता के साथ कृषि कार्य में भी सहभागी बनती थीं [१९]। व्यवहारिक शिक्षा का मुख्य प्रयोजन लौकिक सुख उपलब्ध कराना ही माना जाता था। शरीर को स्वस्थ रखना भी एक महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक शिक्षा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पल्लीवालगच्छ का इतिहास

डॉ. शिवप्रसाद...

निर्ग्रन्थ परम्परा के श्वेताम्बर आम्नाय में चन्द्रकुल से समय-समय पर अस्तित्व में आए विभिन्न गच्छों में पल्लीवालगच्छ भी एक है।[१] जैसा कि इसके अभिधान से स्पष्ट होता है वर्तमान राजस्थान प्रान्त में अवस्थित पाली (प्राचीन पल्ली) नामक स्थान से यह गच्छ अस्तित्व में आया। इस गच्छ में महेश्वरसूरि प्रथम अभयदेवसूरि, महेश्वरसूरि द्वितीय, नन्नसूरि, अजितदेवसूरि, हीरानंदसूरि आदि कई रचनाकार हो चुके हैं। इस गच्छ से संबद्ध अभिलेखीय साक्ष्य भी मिलते हैं, जो वि.सं. १२५७ से लेकर वि.सं. १९८१ तक के हैं। इस गच्छ की दो पट्टावलियां भी मिलती हैं, जो सद्भाग्य से प्रकाशित है[२]। इस निबंध में उक्त सभी साक्ष्यों के आधार पर इस गच्छ के इतिहास पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। अध्ययन की सुविधा के लिए सर्वप्रथम पट्टावलियों, तत्पश्चात् ग्रन्थ प्रशस्तियों और अन्त में अभिलेखीय साक्ष्यों का विवरण एवं इन सभी का विवेचन किया गया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है पल्लीवालगच्छ की आज दो पट्टावलियाँ मिलती हैं । प्रथम पट्टावली वि.सं. १६७५ के पश्चात् रची गई है। इसमें उल्लिखित गुरु-परंपरा इस प्रकार है--

महावीर
|
सुधर्मा
|
|
|
|
|
|
दिनेश्वरसूरि
| (पाली में ब्राह्मणों को जैन धर्म में दीक्षित किया)
महेश्वरसूरि (वि.सं. ११५० में स्वर्गस्थ)
|
देवसूरि
|
मानदेवसूरि
|
कर्णसूरि
|
विष्णुसूरि
|
आम्रदेवसूरि
|
सोमतिलकसूरि
|
भीमदेवसूरि
|
विमलसूरि
|
नरोत्तमसूरि
|
स्वातिसूरि
|
हेमसूरि
|
हर्षसूरि
|
भट्टारक कमलचन्द्र
|
गुणमाणिक्यसूरि
|
सुन्दरचन्द्रसूरि (वि.सं. १६७५ में स्वर्गस्थ)
|
प्रभुचन्द्रसूरि (वर्तमान)

पल्लीवालगच्छ की द्वितीय पट्टावली वि.सं. १७२८ में रची गई है। इसमें भगवान महावीर के ८ वें पट्टधर स्थूलिभद्र से लेकर ३६१ वें पट्टधर उद्योतनसूरि तक का विवरण दिया गया है, जो इस प्रकार है--

महावीर
|

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुधर्मा

८. स्थूलिभद्र

९. सुहस्तिसूरि

१०. इन्द्रदिन्न सूरि

११. आर्यदिन्नसूरि

१२. सिंहगिरि

१३. वज्रस्वामी

१४. वज्रसेन

१५. चन्द्रसूरि

१६. शांतिसूरि

१७. यशोदेवसूरि

१८. नन्नसूरि

१९. उद्योतनसूरि

२०. महेश्वरसूरि

२१. अभयदेवसूरि

२२. आमदेवसूरि

३९. नन्दसूरि (वि.सं.१०९८ में स्वर्गस्थ)

४०. उद्योतनसूरि (वि.सं. ११२३ में स्वर्गस्थ)

४१. महेश्वरसूरि (वि.सं. ११४५ में स्वर्गस्थ)

४२. अभयदेवसूरि (वि.सं. ११६९ में स्वर्गस्थ)

४३. आमदेवसूरि (वि.सं. ११९९ में स्वर्गस्थ)

४४. शांतिसूरि (वि.सं. १२२४ में स्वर्गस्थ)

४५. यशोदेवसूरि (वि.सं. १२३४ में स्वर्गस्थ)

४६. नन्नसूरि (वि.सं. १२३९ में स्वर्गस्थ)

४७. उद्योतनसूरि (वि.सं. १२४३ में स्वर्गस्थ)

४८. महेश्वरसूरि (वि.सं. १२७४ में स्वर्गस्थ)

४९. अभयदेवसूरि (वि.सं. १३२१ में स्वर्गस्थ)

५०. आमदेवसूरि (वि.सं. १३७४ में स्वर्गस्थ)

५१. शांतिसूरि (वि.सं. १४४८ में स्वर्गस्थ)

५२. यशोदेवसूरि (वि.सं. १४८८ में स्वर्गस्थ)

५३. नन्नसूरि (वि.सं. १५३२ में स्वर्गस्थ)

५४. उद्योतनसूरि (वि.सं. १५७२ में स्वर्गस्थ)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५५. महेश्वरसूरि (वि.सं. १५९९ में स्वर्गस्थ)
|
५६. अभयदेवसूरि (वि.सं. १५९५ में स्वर्गस्थ)
|
५७. आमदेवसूरि (वि.सं. १६३४ में स्वर्गस्थ)
|
५८. शांतिसूरि (वि.सं. १६६१ में स्वर्गस्थ)
|
५९. यशोदेवसूरि (वि.सं. १६९२ में स्वर्गस्थ)
|
६०. नन्नसूरि (वि.सं. १७१८ में स्वर्गस्थ)
|
६१. उद्योतनसूरि (वि.सं. १७३७ में स्वर्गस्थ)

इस पट्टावली में ४१ वें पट्टधर महेश्वरसूरि के वि.सं. ११४५ में निधन होने की बात कही गई है। प्रथम पट्टावली में भी महेश्वरसूरि का नाम मिलता है और वि.सं. ११५० में उनके निधन होने की बात कही गई है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि महेश्वरसूरि इस गच्छ के प्रभावक आचार्य थे। इसी कारण दोनों पट्टावलियों में न केवल इनका नाम मिलता है, बल्कि इन्हें समसामयिक भी बतलाया गया है।

पल्लीवालगच्छ का उल्लेख करने वाला महत्वपूर्ण साक्ष्य है महेश्वरसूरि द्वारा रचित कालकाचार्यकथा की वि.सं. १३६५ में लिखी गई प्रति की दाताप्रशस्ति[३], जो इस प्रकार है–

इति श्रीपल्लीवालगच्छे श्री महेश्वरसूरिभिर्विरचिता कालिकाचार्यकथासमाप्त।।

श्रीमालवंशोऽस्ति विशालकीर्तिः श्रीशांतिसूरिप्रतिबोधित डीडाकाख्यः।
श्रीविक्रमाद्वेदनभर्महर्षिवत्सरैः (?) श्री आदिचैत्यकारापित नवहरे च।।१।।

स्वश्रेयसे कारितकल्पपुस्तिका ...पुण्योदयरत्नभूमिः।
श्रीपल्लिगच्छे स्वगुणौकधाम्ना वाचिता श्रीमहेश्वरसूरिभिः।।१०।।

नृपविक्रमकालातीत सं. १३६५ वर्षेभाद्रपदवदौ नवम्यां तिथौ सीमेदपाटमंडले वऊणाग्रामे कल्पपुस्तिका लिखिता।।छ।।

उदकानल चौरेभ्यः मूषकेभ्यस्तथैव च।
रक्षणीया प्रयत्नेन यत कष्टेन लिख्यते।।१।।

संवत् १३७८ वर्ष भाद्रपद सुदि ४ श्रावकमोल्हासुतेन भार्याउदयासिरिसमन्वितेन पुत्रसोमा-लाखा-खेतासहितेन श्रावकऊदाकेन श्रीकल्पपुस्तिकां गृहीत्वा श्री अभयदेवसूरीणां समर्पिता वाचिता च।

इस प्रशस्ति में रचनाकार ने यद्यपि अपनी गुरु-परंपरा, रचनाकाल आदि का कोई निर्देश नहीं किया है, फिर भी पल्लीवालगच्छ से संबद्ध सबसे प्राचीन साक्ष्य होने इसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

इस प्रशस्ति के अंत में वि.सं. १३७८ में किन्हीं अभयदेवसूरि को पुस्तक समर्पण की बात कही गई है।ये अभयदेवसूरि कौन थे। महेश्वरसूरि से उनका क्या संबंध था, इस बारे में उक्त प्रशस्ति से कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। पल्लीवालगच्छ की द्वितीय पट्टावली[४] में हम देख चुके हैं कि महेश्वरसूरि के पट्टधर के रूप में अभयदेवसूरि का नाम आता है। इस आधार पर इस प्रशस्ति में उल्लिखित अभयदेवसूरि महेश्वरसूरि के शिष्य सिद्ध होते हैं।

पल्लीवालगच्छ से संबद्ध अगला साहित्यिक साक्ष्य है वि.सं. १५४४/ई. स. १४८८ में नन्नसूरि द्वारा रचित सीमंधरजिनस्तवन[५] । यह ३५ गाथाओं में रचित एक लघुकृति है। नन्नसूरि के गुरु कौन थे, इस बारे में उक्त प्रशस्ति से कोई सूचना प्राप्त नहीं होती।

वि.सं. १५७३/ई. स. १५१९ में प्राकृत भाषा में ८८ गाथाओं में रची गई **विचारसारप्रकरण** की प्रशस्ति[६] से ज्ञात होता है कि इसके रचनाकार महेश्वरसूरि द्वितीय भी पल्लीवालगच्छ के थे। उपासकदशाङ्ग और आचारांग की वि.सं. १५९१/ई. १५३५ में लिखी गई प्रति की पुष्पिकाओं में भी पल्लीवालगच्छ के नायक के रूप में महेश्वरसूरि का नाम मिलता है।[७]

वि.सं. की १७वीं शताब्दी के प्रथम चरण में पल्लीवालगच्छ में अजितदेवसूरि नामक एक प्रसिद्ध रचनाकार हो चुके हैं। इनके द्वारा रचित कई कृतियाँ मिलती हैं[८], जो इस प्रकार हैं--

१. कल्पसिद्धान्तदीपिका
२. पिण्डविशुद्धिदीपिका (वि.सं. १६२७)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. उत्तराध्ययनसूत्रबालावबोध (वि.सं. १६२९)
४. आचारांगदीपिका
५. आराधना JRK. P-३१
६. जीवशिखामणाविधि
७. चन्दनबालाबेलि
८. चौबीस जिनावली

कल्पसिद्धान्तदीपिका की प्रशस्ति में इन्होंने स्वयं को महेश्वरसूरि का शिष्य कहा है[९]--

इतिश्री चंद्रगच्छांभोजदिनमणीनां श्रीमहेश्वरसूरिसर्व्वसूरिशिरोमणीनां पट्टे श्रीअजितदेवसूरिणा विरचिता श्रीकल्पसिद्धान्तदीपिका समाप्ता।

अजितदेवसूरि के शिष्य हीरानन्दसूरि हुए जिनके द्वारा रचित **चौबोलीचौपाई** नामक कृति प्राप्त होती है[१०]। इसकी प्रशस्ति में इन्होंने अपने गुरु-प्रगुरु आदि का उल्लेख किया है।

पालीवाल विरुदे प्रसिद्ध, चंद्रगच्छ सुपहाण।
सूरि महेसर पाटधर, तेजै दीपइ भाण ।।७।।
तासु पसायै हर्षधर, पभणै हीराणंद ।।८।।

चौबोली चौपाई की वि.सं. १७७० में लिखी गई एक प्रति जिनकृपाचन्द्रसूरि ज्ञान भण्डार बीकानेर में संरक्षित है।

पल्लीवालगच्छ से संबद्ध पर्याप्त संख्या में अभिलेखीय साक्ष्य प्राप्त होते हैं, जो वि.सं. १२६१ से लेकर वि.सं. १६८१ तक के हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है--

क्रमांक	वि.सं.	तिथि/मिति	आचार्य या मुनि का नाम	प्रतिमा-लेख/ शिलालेख	प्रतिष्ठास्थान	सन्दर्भ ग्रन्थ
१.	१२५७	-	-	प्रतिमा लेख	-	मुनि कांतिसागर, संपा. शत्रुञ्जयवैभव, लेखांक ११
२.	१३४३	माघ सुदि १२	-	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	शीतलनाथ जिनालय, कुम्भारवाडो, खंभात	मुनि बुद्धिसागरसूरि, संपा. जैन धातु प्रतिमा लेख संग्रह भाग-२, लेखांक ६५५
३.	१३४५	माघ सुदि १२ रविवार	महेश्वरसूरि	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	चिंतामणिजी का मंदिर, बीकानेर	श्री अगरचंद नाहटा, संपा. बीकानेर जैन लेख संग्रह, लेखांक २००
४.	१३४५	"	"	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	केशरिया जी का मंदिर, देशनोक, बीकानेर	वही, लेखांक २२४४
५.	१३६१	आषाढ सुदि ३	"	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	चिंतामणिजीका मंदिर, बीकानेर	वही, लेखांक २२७
६.	१३७३	वैशाखसुदि १२	गुणाकरसूरि	"	जैन मंदिर, आर्वी	मुनि कांतिसागर, संपा. जैन धातु प्रतिमा लेख संग्रह, लेखांक २७
७.	१३८३	माघ सुदि १० सोमवार	महेश्वरसूरि के पट्टधर अभयदेवसूरि	"	शांतिनाथ जिना. भोंयरापाडो खंभात	लेखांक २७ मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग-२, लेखांक ८९९
८.	१४०९	फाल्गुन सुदि ११ गुरुवार	अभयदेवसूरि	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	चिंतामणिजी का मंदिर, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक ४२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९.	१४३५	फाल्गुन सुदि २ शुक्रवार	अभयदेवसूरि के पट्टधर आमदेवसूरि	चंद्रप्रभ की प्रतिमाका लेख	आदिनाथ जिनालय, मालपुरा	विनयसागर, संपा. प्रतिष्ठालेखसंग्रह, लेखांक १६२
१०.	१४५३	वैशाख सुदि २	शांतिसूरि	पार्श्वनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	चिंतामणि पार्श्वनाथ जिनालय, किशनगढ़	वहीं, लेखांक १७७
११.	१४५६	माघ सुदि १३ शनिवार	"	"	वासुपूज्य जिनालय, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक १३९०
१२.	१४५८	फाल्गुन वदि १ शुक्रवार	"	सुमतिनाथ की प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, हीरावाडी, नागौर	विनयसागर, पूर्वोक्त, लेखांक १८३, एवं पूरनचंद नाहर, संपा., जैन लेख संग्रह, भाग-२, लेखांक १२३७
१३.	१४८२	—	यशोदेवसूरि	श्रेयांसनाथ की प्रतिमा का लेख	बावन जिनालय, करेड़ा	पूरनचंदनाहर, पूर्वोक्त, भाग-२ लेखांक १९३१
१४.	१४८५	मार्ग शीर्ष वदि २	"	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	महावीर जिनालय, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक १३१७
१५.	१४८६	माघ सुदि ५ गुरुवार	यशोदेवसूरि	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, रतलाम	विनयसागर, पूर्वोक्त, लेखांक २६२
१६.	१४८६	माघ सुदि ११ शनिवार	"	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	महावीर जिनालय, सांगानेर	वही, लेखांक २६१
१७.	१४९३	माघ सुदि.....	हरिभद्रसूरि	—	विजयगच्छीय जिनालय, जयपुर	वही, लेखांक २९७
१८.	१४९३	वैशाख सुदि ३	यशोदेवसूरि	संभवनाथ की प्रतिमा का लेख	चिंतामणिजी का मंदिर,बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक ७६७
१९.	१४९७	ज्येष्ठ सुदि ३ सोमवार	"	कुन्थुनाथ की प्रतिमा का लेख	"	वही, लेखांक ७९५
२०.	१५०१	ज्येष्ठ वदि १२	शांतिनाथ के पट्टधर यशोदेवसूरि	धर्मनाथ की प्रतिमाका लेख	सुमतिनाथ मुख्य बावन जिनालय, मातर	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त भाग-२, लेखांक ४८५
२१.	१५०१	कार्तिक सुदि १५	"	सुमतिनाथ की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, भिंडी बाजार, मुंबई	मुनि कांतिसागर, संपा. जैन धातु प्रतिमा का लेख लेखांक ९५
२२.	१५०३	आषाढ़ सुदि गुरुवार	"	संभवनाथ की प्रतिमा का लेख	महावीर जिनालय, बीकानेर	नाहटा,पूर्वोक्त, लेखांक १२७६
२३.	१५०३	तिथिविहीन	यशोदेवसूरि	नमिनाथ की प्रतिमा का लेख	अनुपूर्ति लेख, आबू	मुनि जयंत विजय, संपा. अर्बुद प्राचीन, जैन लेख संदोह लेखांक ६३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२४.	१५०४	वैशाख सुदि ६	नन्नाचार्य संतानीय शांतिनाथ के पट्टधर यशोदेवसूरि के पट्टधर नन्नसूरि के पट्टधर उद्योतनसूरि...... के पट्टधर शांतिसूरि के पट्टधर यशोदेवसूरि	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	नाकोड़ा तीर्थ	विनयसागर, लेखक - श्री नाकोड़ा तीर्थ लेखांक १९
२५.	१५०७	फाल्गुन वदि ३	यशोदेवसूरि	नमिनाथ की धातु की प्रतिमा का लेख	सीमंधर स्वामी का मंदिर, तालाबवाला पोल, सूरत	विजयधर्मसूरि, संपा. प्राचीन लेख संग्रह, लेखांक २२९
२६.	१५०८	वैशाख वदि २	"	सुमतिनाथ की प्रतिमा का लेख	धर्मनाथ जिनालय, खजवाना	विनयसागर, संपा. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, लेखांक ४३०
२७.	१५१०	—	नन्नसूरि	धर्मनाथ की प्रतिमा का लेख	मुनिसुव्रत जिनालय, मालपुरा	वही, लेखांक ४७०
२८.	१५१३	माघ......	यशोदेवसूरि	कुन्थुनाथ की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, नाकोड़ा	नाहर, पूर्वोक्त, भाग-२ लेखांक १८८७
२९.	१५२८	वैशाख सुदि ५	श्री रत्नसूरि	संभवनाथ की धातु की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	कुन्थुनाथ जिनालय, राधनपुर	मुनि विशालविजय, संपा. प्रतिमा लेख संग्रह, लेखांक २५८
३०.	१५२८	माघ वदि ५	यशोदेवसूरि के पट्टधर नन्नसूरि	पद्मप्रभ की प्रतिमा का लेख	घरदेवासर, बडोदरा	मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त भाग-२, लेखांक २२८
३१.	१५२८	—	"	मुनिसुव्रत की धातु की प्रतिमा का लेख	जैन मंदिर, खंडप, मारवाड	नाहर, पूर्वोक्त, भाग-२ लेखांक २१११
३२.	१५३०	वैशाख सुदि ९	"	श्रेयांसनाथ की प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ जिनालय, सांभर	विनयसागर, संपा. प्रतिष्ठालेखसंग्रह, लेखांक ७२०
३३.	१५३३	ज्येष्ठ सुदि ५ शुक्रवार	उद्योतनसूरि	धर्मनाथ की प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ जिनालय, बूंदी	वही, लेखांक ७५९
३४.	१५३६	वैशाख.....९ गुरुवार	"	सुविधिनाथ की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, नापासर	नाहटा, पूर्वोक्त लेखांक २३३३
३५.	१५३६	वैशाख...९ सोमवार	नन्नसूरि के पट्टधर उद्योतनसूरि	चंद्रप्रभ की प्रतिमा का लेख	महावीर जिनालय, वोहारनटोला, लखनऊ	नाहर, पूर्वोक्त, भाग-२ लेखांक १५५५
३६.	१५३६	आषाढ़ सुदि ६ शुक्रवार	अजूण (उद्योतन) सूरि	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	बालाबसही, शत्रुंजय	शत्रुंजयवैभव, लेखांक २१८
३७.	१५३६	आषाढ़ सुदि ९	"	संभवनाथ की धातु की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	स्वामीजी का मंदिर, रोशन मुहल्ला, आगरा	नाहर, पूर्वोक्त, भाग-२ लेखांक १४६२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३८.	१५३७	ज्येष्ठ वदि ४ सोमवार	"	पार्श्वनाथ की सपरिकर प्रतिमा का लेख	आदिनाथ की छत्री के बाहर आले में सपरिकर मूर्ति, नाकोड़ा तीर्थ	श्री नाकोडा तीर्थ लेखांक ५७
३९.	१५४०	आषाढ वदि १	"	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ देरासर, सरधना	विनयसागर, प्रतिष्ठा लेख संग्रह लेखांक ८२३
४०.	१५५०	फाल्गुन सुदि ११ गुरुवार	"	धर्मनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, नाकोड़ा तीर्थ	श्री नाकोड़ा तीर्थ, लेखांक ५९
४१.	१५५१	पौष सुदि १०	"	नमिनाथ की प्रतिमा का लेख	विमलनाथ जिना., सवाई माधोपुर	प्रतिष्ठा लेख संग्रह लेखांक ८६३
४२.	१५५६	पौष सुदि १५ सोमवार	"	शीतलनाथ की प्रतिमा का लेख	महावीर जिनालय, डांगों में, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक १५३७
४३.	१५५८	चैत्र वदि १३ सोमवार	नन्नसूरि के पट्टधर उद्योतनसूरि	शीतलनाथ की प्रतिमा का लेख	जिनदत्तसूरि की दादावाड़ी, शत्रुञ्जय	शत्रुञ्जय वैभव लेखांक २५८
४४.	१५५९	आषाढ़ सुदि १० बुधवार	"	अजितनाथ की प्रतिमा का लेख	महावीर जिनालय, सांगानेर	विनयसागर, प्रतिष्ठा लेख संग्रह . लेखांक ९०१
४५.	१५६६	माघ वदि २ रविवार	'	वासुपूज्य की प्रतिमा का लेख	वीर जिनालय, बडोदरा	मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग-२, लेखांक ४४
४६.	१५७५	आषाढ़ वदि ७ रविवार	महेश्वरसूरि	कुन्थुनाथ की प्रतिमा का लेख	महावीर जिनालय, मेड़तासिटी	विनयसागर, पूर्वोक्त लेखांक ९५६
४७.	१५८३	फाल्गुन वदि १ शुक्रवार	"	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	विमलनाथ जिनालय, सवाई माधोपुर	वही, लेखांक ९७३
४८.	१५९३	आषाढ़ सुदि ३ रविवार	"	पद्मप्रभ की प्रतिमा का लेख	वासुपूज्य जिनालय, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक १३९५
४९.	१६२४	आषाढ वदि ८	आमदेवसूरि	श्रेयांसनाथ की प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ जिनालय, कोचरों में, बीकानेर	वही, लेखांक १६२७
५०.	१६६७	भाद्रपद सुदि ९ शुक्रवार	यशोदेवसूरि के समय, सुमतिशेखर (शिलालेख के रचनाकार)	शिलापट्टप्रशस्ति	—	श्री नाकोड़ा तीर्थ, लेखांक ९०
५१.	१६७८	द्वितीय आषाढ सुदि २ रविवार	यशोदेवसूरि के समय उपा. कनकशेखर	शिलापट्टप्रशस्ति (चौकी मंडप में)	पार्श्वनाथ जिनालय, नाकोड़ा	वही, लेखांक ९१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

			के शिष्य सुमति शेखर एवं देवशेखर (शिलालेख के रचनाकार)			
५२.	१६७९	माघ सुदि ४ शनिवार	श्री ...शेखरसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	भंडारस्थ प्रतिमा, शांतिनाथ जिनालय, नाकोडा	वही, लेखांक ९२
५२.	१६८१	चैत्र वदि ५ मंगलवार	यशोदेवसूरि के समय हरशेखर के शिष्य कनकशेखर के शिष्य देवशेखर एवं सुमतिशेखर (शिलालेख के रचनाकार)	शिलालेख नाकोड़ा	रंगमंडप, पार्श्वनाथ जिनालय नाकोड़ा	वही, लेखांक ९५
५३.	१६८१	आषाढ वदि ६ सोमवार	—	शिलालेख	नाभिमंडप, पार्श्वनाथ जिनालय, नाकोड़ा तीर्थ	वही, लेखांक ९७
५४.	१६८१	फाल्गुन सुदि १० बुधवार	—	वासुपूज्य की प्रतिमा का लेख	पंचतीर्थी मंदिर, नाकोड़ा	वही,लेखांक ९६

उक्त अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर इस गच्छ के आचार्यों का जो पट्टक्रम निश्चित होता है, वह इस प्रकार है--

?
महेश्वरसूरि (प्रथम) (वि.सं. १३४५-१३६१)
|
अभयदेवसूरि (वि.सं. १३८३-१४०९)
|
आमसूरि (वि.सं. १४३५)
|
शांतिसूरि (वि.सं. १४५३-१४५८)
|
यशोदेवसूरि (वि.सं. १४७६-१५१३)
|
नन्नसूरि (वि.सं. १५२८-१५३०)
|
उद्योतनसूरि (वि.सं. १५३३-१५६६)
|
|
महेश्वरसूरि (द्वितीय) (वि.सं. १५७५-१५९३)
|
अभयदेवसूरि (कोई लेख उपलब्ध नहीं)
|
आमसूरि (वि.सं. १६२४)
|
शांतिसूरि (कोई लेख उपलब्ध नहीं)
|
यशोदेवसूरि (वि.सं. १६६७-१६८१)

अभिलेखीय साक्ष्यों में उल्लिखित महेश्वरसूरि 'प्रथम' (वि.सं. १३४५-१३६१) और **कालकाचार्य कथा** (वि.सं. १३६५/ई. स. १३०९ की उपलब्ध प्रति) के रचनाकार महेश्वरसूरि को समसामयिकता, नामसाम्य आदि को दृष्टिगत रखते हुए एक ही व्यक्ति माना जा सकता है। ठीक यही बात अभिलेखीय साक्ष्यों से ज्ञात नन्नसूरि (वि.सं. १५२८-१५३०) और सीमंधर जिनस्तवन (रचनाकाल वि.सं. १५४४/ई. सन् १४८८) के कर्ता नन्नसूरि के बारे में भी कही जा सकती है। इसी प्रकार वि.सं. १५७३/ई. स. १५२४ में विचारसारप्रकरण के रचनाकार महेश्वरसूरि और वि.सं. १५७५-१५९३ के मध्य विभिन्न जिनप्रतिमाओं के प्रतिष्ठापक महेश्वरसूरि द्वितीय भी एक ही व्यक्ति मालूम पड़ते हैं। जैसा कि पीछे हम देख चुके हैं, अजितदेवसूरि ने भी अपनी कृतियों में स्वयं को महेश्वरसूरि का शिष्य बताया है, जिन्हें महेश्वरसूरि द्वितीय से अभिन्न माना जा सकता है।

उक्त साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर **पल्लीवालगच्छीय** मुनिजनों की गुरु-परंपरा की जो तालिका बनती है, वह इस प्रकार है--

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महेश्वरसूरि प्रथम (वि.सं. 1345-1361) प्रतिमा लेख
। **कालकाचार्यकथा** के रचनाकार
।
अभयदेवसूरि (वि.सं. 1383-1409) प्रतिमा लेख
। (कालकाचार्य कथा की वि.सं. 1365/ई. स. 1309
। में लिखी गई प्रति वि.सं. 1378/ई. स. 1322
। में इन्हें समर्पित की गई)
।
आमसूरि (वि.सं. 1435) प्रतिमालेख
।
शांतिसूरि (वि.सं. 1453-1458) प्रतिमालेख
।
यशोदेवसूरि (वि.सं. 1476-1513) प्रतिमालेख
।
नन्नसूरि (वि.सं. 1528-1530) प्रतिमालेख
। (वि.सं. 1544 में सीमंधर जिनस्तवन के रचनाकार)
।
उद्योतनसूरि (वि.सं. 1533-1556) प्रतिमालेख
।
महेश्वरसूरि (वि.सं. 1575-1593) प्रतिमालेख
। (वि.सं. 1573 में विचारसारप्रकरण के रचनाकार)
। ।
अजितदेवसूरि (पिंडविशुद्दिदीपिका, कल्पसिद्धान्तदीपिका आदि के कर्ता) अभयदेवसूरि (साक्ष्य अनुपलब्ध)
। ।
हीराचंद (चौबोलीचौपाई के कर्ता) आमसूरि (वि.सं. 1624) प्रतिमालेख
।
शांतिसूरि (साक्ष्य अनुपलब्ध)
।
यशोदेवसूरि (वि.सं. 1667-1681) प्रतिमालेख

जहाँ तक पल्लीवाल गच्छ की उक्त दोनों पट्टावलियों के विवरणों की प्रामाणिकता का प्रश्न है, उसमें प्रथम पट्टावली का यह कथन कि महेश्वरसूरि की शिष्यसंतति पल्लीवालगच्छीय कहलाई, सत्य के निकट प्रतीत होता है। चूँकि इस पट्टावली के अनुसार वि.सं. ११४५ में उनका निधन हुआ, अत: यह निश्चित है कि उक्त तिथि के पूर्व ही यह गच्छ अस्तित्व में आ चुका था। यद्यपि इस पट्टावली में उल्लिखित अनेक बातों का किन्हीं भी अन्य साक्ष्यों से समर्थन नहीं होता, अत: उन्हें स्वीकार कर पाना कठिन है, फिर भी इसमें पल्लीवालगच्छ के उत्पत्ति संबंधी साक्ष्य उपलब्ध होने के कारण इसे महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

जहां तक दूसरी पट्टावली की प्रामाणिकता की बात है, इसमें यशोदेव-- नन्नसूरि-- उद्योतनसूरि-- महेश्वरसूरि-- अभयदेवसूरि-- आमसूरि-- शांतिसूरि-- इन पट्टधर आचार्योंके नामों की पुनरावृत्ति दर्शाई गई है। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों से इसका समर्थन होता है। इस प्रकार इस पट्टावली में दिए गए पट्टधर आचार्यों के नाम और उनके पट्टक्रम की प्रामाणिकता प्राय: सिद्ध हो जाती है, किन्तु इसमें ५७वें पट्टधर आमसूरि, ५८वें पट्टधर शांतिसूरि और ५९वें पट्टधर यशोदेवसूरि से संबद्ध तिथियों को छोड़कर प्राय: सभी तिथियां मात्र अनुमान के आधार पर कल्पित होने के कारण अभिलेखीय या अन्य साहित्यिक साक्ष्यों से उनका समर्थन नहीं होता तथापि पल्लीवाल गच्छ से संबद्ध आचार्यों का प्रामाणिक पट्टक्रम प्रस्तुत करने के कारण इसकी महत्ता निर्विवाद है। इस पट्टावली में ४१वें पट्टधर महेश्वरसूरि का निधन वि.सं. ११५० में बतलाया गया है। प्रथम पट्टावली में भी वि.सं. ११४५ में महेश्वरसूरि के निधन की बात कही गई है और उन्हें पल्लीवालगच्छ का प्रवर्तक बताया गया है। दोनों पट्टावलियों द्वारा महेश्वरसूरि को समसामयिक सिद्ध करने से यह अनुमान ठीक लगता है कि महेश्वरसूरि इस गच्छ के प्रतिष्ठापक रहे होंगे।

मुनि कांतिसागर के अनुसार प्रद्योतनसूरि के शिष्य इन्द्रदेव से विक्रम संवत् की १२वीं शती में यह गच्छ अस्तित्व में आया, किन्तु उनके इस कथन का आधार क्या है, ज्ञात नहीं होता।

उपकेशगच्छ से निष्पन्न कोरंटगच्छ में हर तीसरे आचार्य का नाम नन्नसूरि मिलता है, इससे यह संभावना व्यक्त की जा सकती है कि पल्लीवालगच्छ भी उक्त गच्छों में से किसी एक गच्छ से उद्भूत हुआ होगा। इस गच्छ से संबद्ध १६वीं शती की ग्रन्थ-प्रशस्तियों में इसे कोटिकगण और चंद्रकुल से निष्पन्न बताया गया है, परंतु इस गच्छ में पट्टधर आचार्यों के नामों की पुनरावृत्ति को देखते हुए इसे चैत्यवासी गच्छ मानना उचित प्रतीत होता है। वस्तुत: यह गच्छ सुविहितमर्गीय था या चैत्यवासी, इसके आदिम आचार्य कौन थे, यह कब और क्यों अस्तित्व में आया साक्ष्यों के अभाव में ये सभी प्रश्न अभी अनुत्तरित ही रह जाते हैं।

सन्दर्भ

१. मुनि जिनविजय, संपा. विविधगच्छीयपट्टावली संग्रह, सिंधी जैन ग्रंथमाला, ग्रन्थांक ५३, मुंबई १९६१ ई.स., पृष्ठ ७२-७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. श्री अगरचंद्र नाहटा, पल्लीवालगच्छपट्टावली

श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई, संपा. श्री आत्मारामजी शताब्दी ग्रंथ, मुंबई १९३६ ई. स. हिन्दी खण्ड पृष्ठ १८२-१९६.

उक्त दोनों पट्टावलियां श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई ने स्वसंपादित जैनगुर्जरकविओं भाग-३, खंड-२, पृष्ठ २२४४-२२५४ में भी प्रकाशित की हैं।

३. Muni Punyavijaya, Ed. Catalogue of Palm Leaf Mss in the Shate Natha jaina Bhandara, Cambay, Vd, G.O.S, No. 135, Baroda, 1961, A.D., PP. 81-82

४-५. श्री अगरचंद नाहटा, पल्लीवालगच्छपट्टावली, श्री आत्मारामजी शताब्दी ग्रंथ, पृष्ठ १९१

६. A.P.Shah, Ed. Catalague of Sanskrit & Prakrit Mss. Munu Shree punya Vijayji's callectin, vol-1, l.d. series No. 5, Ahmadabad, 1965, A.D. P-189, N0. 3343.

७. श्री आत्माराम शताब्दी ग्रंथ, पृष्ठ १९१-१९२

८. वही, पृष्ठ १९२

९. वही, पृष्ठ १९४-१९५

१०.-११. वही, पृष्ठ १९२

१२. मुनि कांतिसागर, शत्रुंजय वैभव, कुशल पुष्प ४, कुशल संस्थान, जयपुर १९९० ई., पृष्ठ ३७२.

१३. शिवप्रसाद कोरंटगच्छ का इतिहास, श्रमण, वर्ष ४०, अंक ५, पृष्ठ १५ और आगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org